

## उत्तराखण्ड की संस्कृति में लोककला का समीक्षात्मक अध्ययन

\*श्रीमती मीना

\*\*प्रो. मोहन सिंह मावड़ी

भारतीय संस्कृति विश्व की महान संस्कृतियों में से महान हैं इसमें कला का अपना एक अलग ही महत्व है। किसी की भी संस्कृति की अगर बात की जाय तो वह किसी समाज के व्यवहार एवं पहचान को ही दिखाते हैं। समाज के विकास एवं निर्माण में कला, संस्कृति की महत्ता रही है। हर समाज, हर समुदाय के लोगों में भी अपनी अलग-अलग कला क्षेत्र में विभिन्न कलाओं की छटा बिखेर रखी है। कला मानव जीवन का एक अटूट हिस्सा है, जिससे मानव किसी न किसी रूप से जुड़ा रहता है। जैसे लोककला, चित्रकला, संगीतकला, शिल्पकला, हस्तकला अन्य कलाएँ आदि। प्रकृति के प्रारम्भ से लेकर आज तक कला किसी न किसी रूप में मानव के जीवन को आनन्दानुभूति प्रदान करती रहती है। इसलिए शास्त्रों एवं ग्रन्थों में कला को जीवन की साधना कहा गया है। संस्कृति हर देश, राज्य, समुदाय, की धरोहर मानी जाती है। इसका अनुमान हम वहाँ के रहन-सहन, रीति-रिवाजों, खान-पान, सस्कारों से लगाया जा सकता है।

“संस्कृति मनुष्यों के समुदाय में रहती है। जिसे कि समाज कहा जाता है। ऐसे जिस समाज में राजनैतिक और सांस्कृतिक एकता पायी जाती है, या वह समाज ऐसी एकता का इच्छुक होता है। तो उसे राष्ट्र माना जाता है।”<sup>1</sup>

“कला कोई अलग-अलग इकाई नहीं है। वह मनुष्य के इतिहास और विश्व की संस्कृति से जुड़ी हुई है। मानव को इतिहास से अलग करके उसके संबंध में कुछ लिखना असंभव है।”<sup>2</sup> मनुष्य का जब सामाजिक विकास होने लगा तभी से ही कलात्मक विकास भी होने लगा। आदिमानवों ने भी गुफाओं में अनेक चित्र बनाये हैं इससे यह स्पष्ट होता है कि उस समय के मानव में भी कला के प्रति रुचि थी। इस प्रकार कला एवं मानव का अभीष्ट सम्बन्ध है। कला मानव विकास और मनोरंजन प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती आयी है।

“धर्म, प्रथा-परम्परा, रीति-रिवाज, बोली, कला-शिल्प आचार-विचार साहित्य आदि की अभिव्यक्ति के विविध उपादानों के रूप में कुमाऊँनी संस्कृति झलकती है।”<sup>3</sup>

भारत के उत्तराखण्ड राज्य के कुमाऊँ मण्डल में लोक संस्कृति का प्रभाव अधिक दिखायी देता है। भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषताओं की झलक कुमाऊँनी लोक संस्कृति में विद्यमान हैं कुमाऊँनी लोक संस्कृति भले ही विराट भारत की संस्कृति में एक छोटी से क्षेत्रीय लोक संस्कृति के रूप में विद्यमान है पर फिर भी अपनी प्राकृतिक सौन्दर्य व लोक संस्कृति के कारण अपना अलग महत्व बना रखा है। “कुमाऊँ में प्रत्येक व्रत, त्योहार, उपनयन संस्कार, पमजा नामकरण, विवाह, छटीं आदि शुभ पर्वों पर भूमि अलंकरण बनाने की परम्परा है। जैसे भी घर-आंगन में खोली रखना शुभ माना जाता है। इसलिए लोगों ने अपने आसपास से सरलता से उपलब्ध वस्तुओं का प्रयोग करके खाली स्थानों एवं आंगन को सँवारने में किया है, ताकि इन स्थानों पर अलंकरण कर घर-द्वार सुरुचिपूर्ण और मंगलमय बनाया जा सके।”<sup>4</sup>

संस्कृति मनुष्य के सभी सामाजिक क्रियाकलापों का एक समन्वित रूप है। इसमें उसके किसी एक पक्ष को नहीं लिया जा सकता है। इसी क्रम में प्राचीन काल से लेकर आज तक लोक कला संस्कृति हिस्सा रही है। जिसके द्वारा कलाकार समाज एवं संस्कृति को उन्नत बनाने का संदेश देता है। लोक कला मानवजीवन को सौन्दर्यमय एवं रसामयता के साथ

\*शोध छात्रा डी.एस.बी. परिसर कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल

\*\*प्रो. डी.एस.बी. परिसर कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल

हृदयागम करने का सर्वोत्तम एवं सशक्त साधन हैं। आदिकाल से लेकर आज तक मनुष्य प्रकृति तथा कला सौन्दर्य के प्रति जिज्ञासु रहा है। कला को जीवन सहचर्य एवं साधना का माध्यम कहा जाता है।

किसी भी समाज एवं समुदाय की संस्कृति का दर्पण उसका साहित्य एवं लोक कला होती है। लोक कला हमारी संस्कृति एवं सभ्यता का श्रृंगार है। कला का शाब्दिक अर्थ ही सुन्दर है अर्थात् जो मन को प्रसन्न करती है, जिससे मानव जीवन में सुन्दरता आती। वही कला का स्वरूप है चाहे वह मानव जीवन को किसी भी रूप में प्राप्त है।

“भारतीय वाङ्मय में लोक का प्रयोग प्राचीन काल से हो रहा है लोक का कोषगत शाब्दिक अर्थ स्थान विशेष संसार जन अथवा लोक, समाज प्राणी यश आदि है। किन्तु “लोक” शब्द की गहराई में जोन पर इसका आशय उस विशेष जन-समूह से होता है जो साज-सज्जा, सभ्यता, शिक्षा परिष्कार आदि से कोसो दूर मनोवृत्तियों के अवशेषों से युक्त है जिसमें प्रकृति के नैसर्गिक सौन्दर्य की दिव्य आभा है।”<sup>5</sup>

“कला दुखी जन के लिए शान्ति प्रदत्त करने वाली संजीवनी है। कष्ट निवारक आनन्ददायक औषधि है क्योंकि जब-जब मनुष्य दुख व विषाद में होता है उससे बाहर निकलने के लिए उसने सदैव कला का ही सहारा लिया है। इसीलिए भारत की धरती पर निवास करने वाले उन व्यक्तियों को जो कला, साहित्य संगीत विहीन हो उसे पशु के समान माना गया।”<sup>6</sup>

लोककला जहां एक ओर सुन्दरता प्रदान करती है वहीं दूसरी ओर यह मनुष्य को खाली समय में मनोरंजन के साथ ही वर्तमान दौर में रोजगार का अवसर भी प्रदान करती है। कला ही एक ऐसा माध्यम है जो न केवल शारीरिक अपितु मानसिक सुन्दरता भी प्रदान करती है। लोक कला मन की अत्यंत सहज और मौलिक प्रवृत्ति होती है। लोक कला द्वारा मन के भावों को रूपित करना, व्यवस्था और विन्यास को मूर्त रूप देना और समाज के स्वरूप को व्यक्त करना है। उसके जीवन को शान्तिप्रिय बनाने में सौन्दर्य प्रेम की प्रमुख आवश्यकता रही है। लोककला ने मनुष्य की इस प्रमुख आवश्यकता को पूर्ण करने का प्रयास किया है।

भारतीय संस्कृति भारत की अनेक कलाओं से अवगत कराती है, तथा उन कलाओं के माध्यम से विभिन्न समाज, समुदायों की सोच एवं भावनाओं का पता चलता है। भारतीय संस्कृति का पता हमें विभिन्न कलाओं के माध्यम से ज्ञात होता है। कला संस्कृति का एक अभिन्न अंग है। भारतीय चित्रकला भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग है। यह वह माध्यम है जो मानव मन को परिष्कृत एवं अलंकृत करता है। भारतीय कलाओं में भारतीय दर्शन, साहित्य तथा धार्मिक मान्यताओं की अभिव्यक्ति का अनुभव किया जा सकता है। यदि संस्कृति किसी देश अथवा जाति का मन है तो सभ्यता उसका तन है। कला ने भारतीय संस्कृति को आज तक संजोकर रखा है। जीवन को सुख सुविधापूर्ण बनाने में कला का एक विशेष स्थान होता है।

लोककला जीवन को सौन्दर्य की अनुभूति एवं आनन्द प्रदान करने वाली कला कहलाती है। लोककला से हमें आनन्द विभिन्न स्वरूपों में प्राप्त होता है। हस्तकला, काष्ठकला, संगीतकला, लोककला, मूर्तिकला, इन सभी कलाओं का अपना अलग ही महत्व है जो कि एक दूसरे से धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, रीति-रिवाजों को जोड़े हुए है। जिस प्रकार कला का अपना अलग स्थान एवं महत्व है। उसी प्रकार लोक कला का भी महत्व है। कला अगर नेत्रों को एवं मस्तिष्क को संतुष्टि प्रदान करने के साथ-साथ मन मस्तिष्क को संतुष्टि प्रदान करती है।

संस्कृति में कला का विशेष महत्व है। उसी प्रकार कला संस्कृति में लोककला की अपनी अलग भूमिका है। लोककला के माध्यम से मानव अपनी भावनाओं का अलंकरण करता है। संस्कृति व लोककला का भी सह-सम्बन्ध है। भारत में विद्यमान कलाओं में लोककला का महत्वपूर्ण स्थान है। इसका मुख्य कारण यह भी है कि भारत में लोककला का अस्तित्व किसी न किसी रूप में इतिहास के सभी काल खण्डों में विद्यमान रही है। भारत के विभिन्न प्रान्तों को वहां के लोककला

के द्वारा भी जाना जाता है। प्रान्तीयता के अनुसार ही लोककला की व्यापकता भी यहां देखने को मिलती है।

“लोककला अपनी आन्तरिक अनभूति को उपयुक्त सहज उपलब्ध माध्यमों द्वारा मूर्त रूप में प्रस्तुत करती हैं। कला सृजन के दो स्तर हैं। प्रथम लोककला द्वितीय शास्त्रीय कला। लोककला सामान्य जनो की कला है, शास्त्रीय कला विशिष्ट जनो की कला है। लोककला में लोकमानस, लोकजीवन, लोकव्यवहार इतना व्याप्त रहता है, तथा लोक कला की अभिव्यक्ति के आकार परम्परा से बंधे होते हैं। ये इतने सहज रूप से उपलब्ध होते हैं, उन्हें निरूपित करने से पूर्व प्रस्तुतकर्ता को विवेचना का सहारा लेकर रूप निर्धारण की अपेक्षा नहीं रहती। लोककला में अनुष्ठान भी सत्रिहित रहते हैं। यह अनुष्ठान परम्पराओं, धार्मिक मान्यताओं से सम्बद्ध होते हैं। अतः सामान्य जनो के लिए सहज और सर्वप्राणीय होते हैं। अतः लोक कला, लोकगीत, लोकनृत्य, लोकसंगीत, लोकनाट्य, लोकजीवन को नवीन चेतना प्रदान करने के साथ-साथ लोकरंजन के सरल सुलभ साध्य हैं। अब मानव शास्त्रीय कला के बन्धनों से मुक्ति पाने के लिए लोक कलाओं की ओर आकर्षित है। लोककलाओं के प्रति विश्व के सभी देशों में नवीन अभिरुचि उत्पन्न हो रही है।”

समाज में मानव किसी भी स्थिति में निवास करता है, चाहे उसकी सोच का स्तर जो भी हो पर मन से वह समान ही होता है। जिससे वह अपनी संस्कृति को अपने अन्दर समाये हुए है। हर कला का जिस तरह अपना एक विशेष स्थान होता है। लोककला का भी हमारी संस्कृति में विशेष स्थान होता है। लोक कला जीवन के मनोभावों को उजागर करती है।

“लोककला में प्रकृति का अनिवार्यतः यथावत् रूपोक्त नहीं होता बल्कि यह प्रकृति में उपस्थित तथ्यों का स्वतन्त्र सपञ्जन के आधार पर प्रतिरूपण करती है। जो मानव के वस्तुगत प्रत्यय-बोध की पुनर्व्याख्या है।”

“लोककला की विस्तृत उदात्त भावभूमि का पर्यावलोकन यह स्पष्ट करता है कि लोककला आधुनिक कला से सर्वथा भिन्न है। यह चिरकाल से आज तक अपने अस्तित्व को बनाये हुए है। इस कला में सादगी, निर्मलता और भावनात्मक सम्प्रेषणीयता की एक अनोखी तीव्रता व्याप्त है। जो अन्य किसी कला में प्राप्त नहीं है। नैसर्गिक प्रवाह, सहज अभिव्यक्ति, जटिलता से परे सरलीकृत रूपों के द्वारा लोककला एक अनुपम सौन्दर्य की सृष्टि करती है। जिसमें अभिप्रायों के साथ जन-जन की भावनाएँ और विश्वास धरोहर के रूप में सुरक्षित है और ये अभिप्राय इस कला के माध्यम से जीवन की लयात्मक गति को निरन्तरता प्रदान करते हैं। लोककला व्यक्तिवादी नहीं है और न ही व्यक्ति विशेष या सम्प्रदाय विशेष की चेरी ही प्राप्त होता है।”

लोककला को ईश्वर का स्वरूप माना गया है। इस संसार में कोई अपनी भावनाओं को लोककला में व्यक्त करता है कोई चित्रकला में तथा कोई नृत्यकला में या अन्य कलाओं में व्यक्त करता है। अलग-अलग रूप में अपनी भावना व्यक्त करने पर भी उनका लक्ष्य एक ही होता है। जिस तरह लोककला की रंग, रूप, आकार और रेखा होती है। संस्कृति और लोककला एक-दूसरे के पूरक हैं। जिस तरह से लोककला में पारम्परिक भावनाओं के माध्यम से चित्रांकन को सौन्दर्यपूर्ण बनाया जाता है उसी तरह संस्कृति को हमारी पारम्परिकता से संजोये रखती है। इससे हमें लोककला के सौन्दर्यात्मक अभिव्यक्ति का पता चलता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि कला, संस्कृति और लोक कला का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसे मनुष्य के केवल एक अंग को हम मनुष्य नहीं कह सकते उसी प्रकार एक दूसरे के बिना संस्कृति और लोककला का अस्तित्व भी नहीं है। विभिन्न कलाओं का विकास आपसी समन्वय से हुआ है और लोक कला एवं संस्कृति को पहचान दिलाने में एवं अस्तित्व बनाने में लोककला की भूमिका भी महत्वपूर्ण रही है।

### सन्दर्भ सूची

1. हुसैन एस• आबिद : भारत की राष्ट्रीय संस्कृति पृ•स• 04, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया नेहरू भवन नई दिल्ली (1987)।
2. स्वामी ई• कुमारिल : भारतीय कला और कलाकार पृ•स• 15, निर्देशक प्रकाशक विभाग और प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, पटियाला हाउस नई दिल्ली (1987)।
3. पोखरिया देवसिंह : कुमाऊँनी भाषा एवं साहित्य पृ•स• 04, रवई एवं जौनसार बाबर का लोक साहित्य पहाड़ परिक्रमा तल्लाडांडा तल्लीताल नैनीताल (2010)।
4. हरिमोहन पो• : हमारा उत्तरांचल पृ•स• 143, हिन्दी बुक सैन्ट, 4/5-बी आसफ अली रोड नई दिल्ली (2002)।
5. गुप्ता डा• नीलिमा : भारतीय लोककला (छत्तीसगढ़ के संदर्भ में) पृ•स• 32, स्वाति पब्लिकेशन्स दिल्ली (2010)।
6. चन्द्रगुप्त डा• दिनेश : भारत की चित्रकला पृ•स• 50, धर्मा प्रकाशन 355ए/9 सावित्री पार्क माधवपुर बैरहना (2009)।
7. भार्गव डा• सरोज : सौन्दर्य बोध एवं ललित कलाएँ पृ•स• 49-50, कला प्रकाशन बी, 33/33ए-1, न्यू साकेत कालोनी बी•एच•यू• वाराणसी (1999)।
8. चतुर्वेदी डा• मंजुला : भारतीय लोककला के अभिप्राय पृ•स• 35, कला प्रकाशन बी•एच•यू• वाराणसी।
9. पूर्वोत्तर : पृ•स• 35।